सांस्कृतिक संकट के बीच प्राकृत

प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय

भारतीयता के लिए सांस्कृतिक संकट यह है कि उसके विराट् स्वरूप को, जिसे सहस्राब्दियों में विद्या, त्याग और तपस्या के बल पर उसने उपार्जित किया था, या तो छिपाया जाता है या उसे विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक ओर भारतीय धरती का यह सौभाग्य रहा है कि प्राक्-इतिहासकाल से ही लगातार दर्जनों मानववंशी समूहों और सैकड़ों विशिष्ट जातियों ने इसे अपनी मातृभूमि बनाया और अपने-अपने धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला एवं आध्यात्मिक तत्त्वचेतना से इसे ऐसा सुसमृद्ध किया, जिससे यह संभावना जाग उठी कि इसके द्वारा मानव जाति को एक विश्व मानव संस्कृति का अवदान प्राप्त हो। किन्तु दूसरी ओर दुर्भाग्य यह है कि इसके विराट् सांस्कृतिक चेतना के स्वरूप को उभरने न देने के लिए अनेक दुरभिसंधिपूर्ण चेष्टायें की गईं। देश के इस अपमानपूर्ण इतिहास-खण्ड के प्रति इस प्रकार की अनवरत चेष्टा ही उत्तरदायी है। अपनी सांस्कृतिक यात्रा के आदि काल में ही यह मंगलकामना की गई थी कि यहाँ से सारे विश्व में श्रेष्ठता का प्रसार होगा। उस समय मनीषियों का यह उद्गार था कि जो भूमा है, वही सुख है, जो अल्पता है वही मृत्यु है। हिमालय, सिन्धु और गंगा की उपत्यका से उठनेवाले इस मानवीय जयघोष को जिस महाप्रमाद ने अपने अहंकार के प्रचण्ड कोलाहल में अनसुना कर दिया और जिस हृदय-दौर्बल्य की प्रचण्डता ने इस देश की विराट् आत्मा को क्षुद्रता की ओर ढकेल दिया, उसकी अवसादपूर्ण परिणति का दायित्व भी हमारी उस ऐतिहासिक अक्षमता पर ही है। इस दुष्प्रवृत्ति ने हमारे तेजस्वी जीवन पर चतुर्दिक प्रहार कर, विराट् को क्षुद्रता का अभ्यास कराया। आज भी हमारे सामाजिक अभ्यास, उसके स्वभाव और शक्ति-संघात पर इस हीन प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस बड़े देश में यह जितना फैला है, उतना गहरा भी है। इसलिए इस ऐतिहासिक तथ्य के पुंखानुपुंख विश्लेषण के बिना भारतीय जीवन में स्थित गहरे अवसाद का निदान नहीं किया जा सकता और न उसका उपचार। इन कारणों की खोज में प्राचीन भारतीय साहित्य के साक्ष्य प्रस्तुत हैं, विशेषकर प्राकृत, पालि आदि के आगमों के विशाल साहित्य में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं इतिहास से संबंधित किसी विषय पर शोध या विशिष्ट अध्ययन का कार्य किया जाता है तो उसका गन्तव्य एवं उसकी दिशा प्रायः पूर्व निर्धारित रहती है। ऋग्वेद से यात्रा प्रारंभ कर उपनिषद्, महाभारत, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ, पुराण तक, उसी से संबंधित काव्य एवं षड्दर्शन के विमर्श तक। इतने से ही अध्ययन पूर्ण समझ लिया जाता है। भारतीय संस्कृति तथा भारतीय विद्याओं के अध्ययन का यही 'अथ एवं इति' मान ली जाती है। वास्तव में भाषा एवं विषय की दृष्टि से संस्कृति की यह एक संकीर्ण वीथि है, जिसे भारतीय संस्कृति के अध्ययन का राजमार्ग बताया जाता है। इस प्रसंग में भारतीय भाषाओं के इतिहास तथा उसके भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्षों को या तो आँख ओझल कर दिया जाता है या उसे भी अन्यथा रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वैदिक भाषा के संयोजन के पीछे तत्कालीन जनभाषाओं के अवदान की चर्चा हम यहाँ न भी करें, तो भी हमारा ध्यान इस ओर अवश्य आकृष्ट रहना चाहिए कि वैदिक भाषा का आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ नैरन्तर्य कैसे जोड़ा जाय। इस गहरे अन्तराल को मात्र संस्कृत से जोड़ने की चेष्टा की जाती है। यह ठीक है कि संस्कृत का जीवन दीर्घकालीन है, किन्तु इसका जीवन कभी समग्र भारतीय जन-जीवन का प्रतिनिधि नहीं था, यह भी छिपा नहीं है। समाज के अल्प-संख्यकों का, उसमें भी वर्गविशेष का ही तो जीवन उसमें प्रतिफलित हुआ। फलतः संकृत ने न तो नवजीवन एवं जनभाषा से स्वयं प्रेरणा प्राप्त की और न अपनी विशिष्टता से जनजीवन का स्पर्श ही किया। यही कारण है कि संस्कृत कभी सहज नहीं बन सकी। अपनी कृत्रिमता के बल पर वह 'देववाणी' बनने के प्रयास में लगी रही। यह भी ध्यान देने की बात है संस्कृत द्वारा 'देववाणी' बनने का प्रयास किया गया, कभी भी 'देवीवाणी' नहीं। संस्कृत की इस विरोधी पृष्ठभूमि में विज्ञजनों द्वारा यह निष्कर्ष निकालना और उसे प्रसारित करना कितना हास्यप्रद, अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक है कि—

१. संस्कृत ही भारतीय संस्कृति है।

२. वर्तमान भारतीय भाषाएँ संस्कृत से ही उत्पन्न हैं।

उक्त प्रकार की अवधारणा पर ही भारतीयता की समग्रता को न उभरने देने का प्रमुख उत्तरदायित्व है। संस्कृत ही यदि भारतीय संस्कृति है, तो हम भारतीयता को कितना खण्डित एवं आंशिक रूप देते हैं, इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। भाषा का संस्कृति के साथ क्या संबन्ध है और अपने सहज रूप में वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसे विकसित होती है, इसकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। वैदिक छान्दस के बाद एक भाषा 'संस्कृत' 'लौकिक संस्कृत' या 'भाषा' के नाम से बनाई गई। प्रारम्भ में अनेकानेक जनभाषाओं का इसमें योगदान था। उसी के आधार पर कृत्रिमता से बोझिल एवं जटिल नियमों से आबद्ध एक भाषा बनी, जो संस्कृत थी। इस भाषा को छान्दस के बाद ही संयोजित किया गया, जो जनभाषाओं के समानान्तर खड़ी हुई जो एक छोटे वर्ग की सांस्कृतिक भाषा बनी। इसके पीछे जन-जीवन से पृथक् रहने की धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रेरणा थी। भाषाविदों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि जो भाषा साहित्यिक बनती है, उसकी सामान्य प्रवृत्ति जनभाषा एवं जनजीवन से दूर रहने के रूप में उभरती है। अल्पसंख्यक अभिजात वर्ग की भाषा होने से संस्कृत में यह प्रवृत्ति अधिक उग्र थी। संस्कृति के साथ भाषा का तादात्म्य, सम्बन्ध या किसी प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता है, किन्तु संस्कृति का सर्वाधिक शक्तिमान् संप्रेषक माध्यम भाषा ही है, इसमें भी विवाद नहीं है। वर्णों, जातियों की उच्चता-नीचता, सेवा और श्रम का अवमूल्यन, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज एवं जनजातियों के अधिकारों का हनन आदि जिस समाज-रचना का आधार बन गया है, उसके आचार-विचार की कालव्यापी परम्परा को यदि 'संस्कृति' नाम देना है तो उस अर्थ में संस्कृत अवश्य संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा है। इस स्थिति में 'संस्कृत आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी है,' इस मान्यता का अभिप्राय सिर्फ इतना ही हो सकता है कि स्वतः एवं सहज प्रवहमान जनभाषाओं को उनके स्वभाव से च्युत कर उनका संस्कृतीकरण करने की प्रवृत्ति आज भी संस्कृत में बनी हुई है।

ऊपर संस्कृत के संबन्ध में जो कुछ कहा गया है उसका उद्देश्य उसका अवमूल्यन करना या एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ के द्वारा प्राप्त उसके महत्त्व को कम करना नहीं है। अपितु, भारतीयता के विराट संदर्भ में उसका सही मूल्यांकन करना है। फिर उसके प्रसंग से विभिन्न काल के उन जन-भाषा-समूहों एवं जन-संस्कृतियों का महत्त्वांकन उद्देश्य है, जिनका प्रतिनिधित्व भाषा की दृष्टि से पालि, प्राकृत और अपभ्रंशों द्वारा हुआ है। साथ ही इसका निर्धारण भी आवश्यक है कि भाषा की वे कौनसी स्वगत प्रवृत्तियाँ हैं और संस्कृति के वे कौनसी स्वगत प्रवृत्तियाँ हैं और संस्कृति के वे कौन से तत्त्व हैं जिनके कारण स्थानीय जनभाषाओं के आधार पर उद्गत एवं विकसित होकर भी संस्कृति के समान अन्य भाषाएँ भी अपनी वास्तविक लौकिकता छोड़ने लगती हैं, और संस्कृति के वे कौन से तत्त्व हैं, जो उसे लोक-जीवन से विमुख करने लगते हैं। क्योंकि देखा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है कि अलौकिक होने की इन प्रवृत्तियों ने एक सीमा के बाद पालि, प्राकृत और अपभ्रंशों को भी प्रभावित किया। इस स्थिति में विचार करना होगा कि क्या जनजीवन से दूर होना भाषा और संस्कृतियों की नियति है या इसके विपरीत इनका कोई अपना स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है, जिससे वे अपनी सहजता को कायम रख सकें। इसके विश्लेषण के आधार पर ही हम इसके निर्धारण में भी सक्षम होंगे कि जनभाषाओं, उनकी प्रतिनिधि भाषाओं तथा उनके द्वारा प्रकाशित जीवन-दर्शन की समस्याएँ क्या हैं और उनकी सहज एवं स्वाभाविक गति कहाँ और क्यों अवरुद्ध होती है।

वैदिक छान्दस भाषा से आधुनिक भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली भाषा-परंपरा है प्राकृत, जिसने अपने सहज स्वभाव एवं निरन्तर विकसनशील गति के कारण विभिन्न पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के नाम से १७०० वर्षों से अधिक आयु को शिलालेखों, आगमों, नाटक, काव्य एवं विभिन्न साहित्यों में पूर्ण वैभव के साथ सुरक्षित रखा। इस संबंध में इन तथ्यों पर विशेष ध्यान रहना चाहिए कि प्राकृतों का उद्‌भव संस्कृत से नहीं हुआ। उसकी जीवन-धारा संस्कृत से पूर्व बहुत प्राचीन काल से प्रवाहित थी और संस्कृत के आदि से उसके पूरे काल में उसके समानान्तर अपने पूर्व-पूर्व स्वतंत्र स्रोत से चलकर उत्तरोत्तर कालों में विस्तृत एवं गंभीर होती चली गई। इतना ही नहीं, उसके द्वारा प्रकाशित जीवन-दर्शन, सामजिक एवं धार्मिक मान्यताएँ और ऐतिहासिक उपलब्धियाँ संस्कृत की प्रमुख विचारधारा ब्राह्मणवाद से नितांत भिन्न थीं। यही कारण है कि इतिहास के प्रारंभकाल से ही भारतीय साहित्य में श्रमण एवं ब्राह्मण के मौलिक भेद और विरोध को बार-बार दुहराया गया है। जब श्रमण और ब्राह्मण नामों के द्वारा भेद किया जाता है तो उसका संदर्भ सांस्कृतिक होता है, जातिवादी नहीं, क्योंकि जाति की दृष्टि से श्रमणों में भी ब्राह्मण पर्याप्त मात्रा में रहे हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण संस्कृति में ब्राह्मणेतर भी प्रचुर संख्या में मिलते हैं। इस प्रसंग में कुछ लोग इतिहास की भ्रांतिपूर्ण व्याख्या करना चाहते हैं कि श्रमण संस्कृति ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया में उद्‌गत हुई या ब्राह्मणधारा के अन्तर्गत ही यह एक उत्क्रांति थी, जिसका उद्देश्य ब्राह्मण-परंपरा में उदार संशोधन लाना था, जबकि ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर श्रमणों की प्राचीनतम परंपरा को अन्यथा नहीं किया जा सकता। इस संबंध का प्राग्‌-ऐतिहासिक विवाद यहाँ प्रासंगिक नहीं होगा। अच्छा यही होगा कि प्राकृतों के इतिहासकालिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्गम और विकास द्वारा प्रतिफलित निष्कर्षों के आधार पर ही वास्तविकता का आकलन किया जाय।

विदित है कि श्रमण-परंपरा अनेक भागों में विभक्त थी। किन्तु ईसापूर्व पाँच-छः सौ वर्षों के मध्य उसके दो सशक्त आन्दोलन खड़े हुए, जिसके महान् नायक थे भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध। यह युगान्तकारी उत्क्रांति आर्यों के मध्य में ही खड़ी हुई, जिसने प्रेरणाएं पूर्वागत श्रमण-परंपरा से प्राप्त की और समसामयिक वैदिक जीवन-दर्शन एवं उसकी सामाजिक व्यवस्था को मानव-हित का विरोधी समझकर मानव-श्रेष्ठता प्रधान धर्मों का उपदेश किया। दोनों श्रमण-परंपराओं में परस्पर मत-वैचित्र्य होते हुए भी अनेकानेक ऐसी समान मान्यताएँ थीं, जिनसे श्रमणों की विशिष्टता तथा ब्राह्मणवादी परंपरा से उसका मौलिक भेद एवं विरोध स्पष्ट हुआ।

श्रमणों ने देव-श्रेष्ठता और ईश्वरवाद का विरोध करके मानव-श्रेष्ठता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। ब्राह्मण एवं राजन्यों के अन्तहीन साम्राज्यवादी आयाम को धार्मिक आवरण में सुरक्षित करने के प्रधान उद्देश्य से प्रस्थापित यज्ञीय कर्मकाण्ड का विरोध कर श्रमणों ने उसे आध्यात्मिक साधनाओं की दिशा प्रदान की। यज्ञ को केन्द्र बनाकर उसके चतुर्दिक एक ऐसी संस्कृति का प्रभामण्डल खड़ा होता था, जिसमें जन्म से उत्कृष्ट समझा जानेवाला वर्ग सब प्रकार के लाभान्वित हो और इतर लोक वंचित रहे। सिर्फ पशु-हिंसा के ही कारण श्रमणों ने यज्ञ का विरोध किया, यह कहना मानव-प्रजा के शोषण-विरोधी इस ऐतिहासिक आन्दोलन को हल्का बनाना है। सत्य यह है कि श्रौतयाग साम्राज्यवादी शोषण का धार्मिक मंच था। इसी दृष्टि से इतिहास की तथ्यात्मक व्याख्या होनी चाहिए। इसी संदर्भ में श्रमणों का गणतन्त्रों के प्रति पक्षपात को भी ग्रहण करना चाहिए। शब्दों की नित्यता, उसकी सर्वोच्च पवित्रता और अकाट्य प्रामाण्य की जगह श्रमणों ने अर्थ की पवित्रता के सिद्धान्त को मुखरित किया। शब्द को उन्होंने केवल अर्थ-संप्रेषण के लिए माध्यम मात्र स्वीकार किया। मानव-हित श्रमणों का आदर्श था, इसलिए उन्होंने छान्दस भाषा का निषेध करके अपने उपदेशों का माध्यम जनभाषाओं को स्वीकार किया। एक ओर वर्णवाद और जातिवाद के विरोध में श्रमणों ने मानव-समता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया और दूसरी ओर स्त्री, शूद्र, अन्त्यज एवं चांडालों तक को अध्यात्म का अधिकार प्रदान किया। समता, श्रम और शांति की प्रतिष्ठा के आधार पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसक समाज-व्यवस्था के लिए अवसर प्रदान करना, श्रमण-धर्म की स्वाभाविक परिणति है। श्रमणों ने युद्ध और हिंसा को कभी धर्म होने की महिमा प्रदान नहीं की, प्रत्युत उसे मानव की विवशता के रूप में भी माना तथा आपसी विवादों को शान्ति पूर्ण ढंग से निपटाना अपने गणतंत्र की नीति बनायी। श्रमणों की अहिंसा सिर्फ प्राणीवध से विरत होना मात्र नहीं है, अपितु व्यक्तिगत एवं सामाजिक तृष्णा और परिग्रह के जितने क्रूर रूप हैं, जिनकी परिणति व्यक्ति-जीवन एवं समाज के अन्यान्य-क्षेत्रों में विषमता, दुःख और दारिद्रय के रूप में प्रतिफलित होते हैं, उन सबसे विरत होना अहिंसा की वास्तविक प्रतिष्ठा है। सर्वसंग्राहकता, जो किसी भी संस्कृति का सर्वस्व होना चाहिए, उसके पुरस्कर्ता श्रमण थे और ब्राह्मण उसके विरोधी। विरोधी-धर्म तथा विरोधी-सामाजिक व्यवस्था के बीच महावीर और बुद्ध के अनुयायियों ने पूरे भारतीय महाद्वीप में श्रेष्ठता के अधिकार से वंचित कोटि-कोटि जनता को अपने शास्ता के उपदेशों से आश्वस्त किया और उन्हें साहित्य तथा संस्कृति का मानवीय वर प्रदान किया। श्रमणों में बुद्ध के अनुयायियों ने तो इस महाद्वीप के बाहर भी जाकर विश्व के गोलार्द्ध में श्रमण-धर्म का प्रसार किया। संस्कृति-प्रसार के अभियान में श्रमण जहाँ भी गये, वहाँ उन्होंने अपनी भाषा के साम्राज्य को स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। प्रत्युत स्थानीय जनभाषाओं को अंगीकार करके उन्हें ही शिलालेखों और काव्य, साहित्य आदि में उत्कृष्टतम स्वरूप प्रदान किया। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के अनेकानेक भेदों में विभक्त होने के पीछे उनके द्वारा स्थानीय जनभाषाओं के अंगीकार और उसके प्रति आदर का भाव ही मुख्य था। ठीक इसके विपरीत वैदिक धारा के प्रमुख प्रतिनिधि मीमांसकों ने कहा कि महाश्रमण बुद्ध के शब्दों में कथित अहिंसा वैसे ही धर्म नहीं है जैसे चमड़े में रखा हुआ गोदुग्ध ग्राह्य नहीं। उनके समक्ष वेदों में संग्रहीत आर्येतर शब्दों की प्रामाणिकता का जब प्रश्न उठा, तो उन्होंने उसे उस दशा में स्वीकृति प्रदान की, जब वे आर्यविरोधी नहीं हों।

जैनों ओर बौद्धों ने अपने शास्ता के उपदेशों को 'आगम' कहा श्रुति नहीं। केवल जैन, बौद्ध ही नहीं, प्रारंभिक सभी वैष्णव, शैव एवं शाक्त आचार्यगण ने भी श्रुति के विरोध में उनसे अपने प्रस्थान की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए अपने आधारभूत साहित्य को 'आगम' कहा और उसके लिए प्राकृतों का माध्यम स्वाकार किया। परवर्ती काल में भा वैष्णव, शैव और शाक्तों पर जब ब्राह्मण-संस्कृति का प्रभाव बढ़ने लगा तो उन्होंने वेदों के विरोध में आगम का ही प्रामाण्य स्वीकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया। इस प्रकार जैन और बौद्ध ही नहीं, अपितु पूर्ववर्ती वैष्णव, शैव और शाक्तों के यज्ञवाद, जातिवाद, वेद-प्रामाण्यवाद संबंधी विरोध ने तथा स्त्री, शूद्र आदि के अंगीकार ने श्रमणों के प्रभाव क्षेत्र को अखिल भारतीय बना दिया।

यह सब कहने का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इस तथ्य को समझने में कोई कठिनाई न हो कि क्यों भारतीय संस्कृति के निर्माण में श्रमणों की भाषा एवं साहित्य आदि का प्रधान एवं श्रेष्ठ अवदान है और उन्हें इसके लिए विरोधी मान्यताओं के साथ किस प्रकार चतुर्दिक संघर्ष करना पड़ा। इस तथ्य के स्पष्ट होने में भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि इतिहास काल में सर्वप्रथम श्रमण-संस्कृति द्वारा सर्व भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व संभव हुआ, जो सभी आगम-साहित्यों में प्रतिबिंबित एवं सुरक्षित है। कहा जा सकता है कि श्रमण-संस्कृति का पर्याय उसकी आगम-संस्कृति रही है। इसी पृष्ठभूमि में आगम-संस्कृति में सर्वभारतीयों की संस्कृति प्रतिबिंबित हुई जबकि संस्कृत की संस्कृति में अल्पसंख्यक वर्ग की वर्गीय-संस्कृति।

दर्शन और आध्यात्मिक चिन्तन की दृष्टि से भी यदि इस तथ्य की परीक्षा करें तो वेद और उपनिषदों से जैन और बौद्ध आगम अधिक पुरोगामी एवं श्रेष्ठ सिद्ध होंगे। बुद्ध एवं महावीर ने दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया प्रस्तुत की, जिसे विभज्यवाद, मध्यममार्ग और अनेकान्तवाद के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इस ओर ध्यान जाना चाहिए कि विभज्यवाद, मध्यममार्ग, अनेकान्तवाद मात्र एक दर्शन-प्रस्थान नहीं है, अपितु यह चिन्तन की वह प्रवहमान प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अनेकानेक दार्शनिक प्रस्थानों के उद्गम की संभावना खड़ी होती है। जो चिन्तन प्रक्रिया-धारित नहीं होता, उसकी गणना श्रेष्ठ दर्शन की कोटि में नहीं की जा सकती, प्रत्युत् वे पूर्व-प्राप्त विश्वासों की व्याख्या मात्र हैं। पालि-प्राकृत आगमों में अपने समकालिक दृष्टिवादों का जो प्रभूत संग्रह, परीक्षण एवं विश्लेषण हुआ, उससे एक ओर श्रमणों के दार्शनिक चिन्तन की तत्परता और उनका बौद्धिक उत्कर्ष प्रकट होता है और दूसरी ओर उस काल की ब्राह्मण परंपरा में उसका अभाव और उनके चिन्तन की अक्षमता को स्पष्ट करता है। बौद्ध, जैन आगमों और प्राचीन साहित्यों में जितने विस्तार से पदार्थ-विद्या का विश्लेषण किया गया है, उदाहरण में परमाणुवाद को लें, उसका जो व्यापक एवं विस्तृत अध्ययन हुआ वह समसामयिक साहित्य में कहाँ उपलब्ध है? प्राचीनतम काल में परमाणु के संबंध का गंभीर एवं सूक्ष्म अध्ययन जैसा जैनों द्वारा प्रस्तुत किया गया वह आज भी महत्त्वपूर्ण है। कर्मवाद के द्वारा नीति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था तथा गुणस्थानों एवं भूमिभेदों के आधार पर योग एवं विविध साधनाओं की व्यवस्था द्वारा जीवन की जो अध्यात्म-प्रवणता निर्धारित की गई वही भारतवर्ष का अपना आध्यात्मिक वर्चस्व माना गया। ऐसे विषयों से संबंधित प्राचीनतम एवं विस्तृत साहित्य का अन्यत्र मिलना संभव नहीं है। जीवन के आन्तर और बाह्य पक्षों से सम्बन्धित विद्याओं का इतना बड़ा वैभव पालि और प्राकृतों के माध्यम से विकसित होना तथा उसका समान्य जनजीवन के साथ सम्बन्ध जोड़े रखने का निरन्तर प्रयास करना, अल्पसंख्यक संस्कृति की अपेक्षा श्रमण-संस्कृति को भारतीयता का विशाल आयाम प्रदान करता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण चर्चा के बाद यह प्रश्न समाधान की नितांत अपेक्षा रखता है कि पिछले हजार वर्षों से पालि-प्राकृतों के प्रभाव में उत्तरोत्तर ह्रास होना, जिससे कि उसका सर्व भारतीय प्रतिनिधित्व निःशेष-सा हो जाय, उसके पीछे क्या क्या कारण हैं ? यह प्रश्न अन्य अनेक ऐतिहासिक प्रश्नों को उठाता है, जिसका विवेचन यहां संभव नहीं है, किन्तु इस मूल बात की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए कि पालि प्राकृतों के ह्रास के पीछे जबरदस्त सांस्कृतिक पराजय ही कारण है। वास्तव में पालि प्राकृत का पराजय भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक उदारता का और सर्व भारतीय लोक-संस्कृति का पराजय था। यह भी संभव है कि आक्रामक अल्प-संख्यक संस्कृति ने अपने में उन अपेक्षित गुणों को आत्मसात् किया हो जो श्रमणों की कभी एकमात्र विशेषता थी। कारण के रूप में यह भी संभावित है कि श्रमणों की दुर्बलता और विरोधी आक्रमण का सामना करने की अक्षमता के पीछे उनके अपने स्वयं के दुर्गुण हों, जिन्हें उन्होंने परवर्ती संघर्ष काल में अपनाया हो। इसी प्रकार के प्रश्नों के समाधान के बिना आज आगमों के गौरवशाली एवं महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उसकी समस्या खड़ी है। इस पूरी परिस्थिति को एक वाक्य में कहा जा सकता है कि आगमों की समस्या उसका सांस्कृतिक संकट है। ऐतिहासिक निष्कर्षों के आधार पर यह स्पष्ट है कि पालि, प्राकृत आदि का बहिष्कार सिर्फ भाषा-बहिष्कार नहीं, अपितु संस्कृति-बहिष्कार है। इस संकट का रूप केवल बौद्धों, जैनों या अन्यान्य सन्त सम्प्रदायों की दृष्टि से देखना संकट के आयाम को छोटा समझना होगा। वास्तव में यह भारतीय संस्कृति और भारतीयता का संकट है, जिससे आज की प्रायः सभी मूलभूत राष्ट्रीय समस्याएं साक्षात् या परंपरया जुड़ी हैं, आज इनका विवेचन नितांत अपेक्षित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रसंग में सर्व प्रथम श्रमणों की इस प्रवृत्ति का ऐतिहासिक विश्लेषण अवश्य होना चाहिए कि उन्हें परवर्तीकाल में संस्कृत भाषा का आश्रय ग्रहण करने की क्या विवशतायें थीं। यह ठीक है कि संस्कृत स्वयं में एक भाषा मात्र थी, जिसे अर्थ संप्रेषण का माध्यम स्वीकार करना, आपत्तिजनक नहीं होना चाहिए। अथापि छान्दस से उतरकर संस्कृत को 'लौकिक' बनाने में श्रमण आचार्यों का महान् योगदान है। यहाँ तक कि बौद्धों के महायान सूत्रों का एक विशाल साहित्य एक ऐसी लौकिक संस्कृत में है, जिसे 'गाथा संस्कृत', 'मिश्रित संस्कृत'' या 'संकर संस्कृत' कहा जाता है, जिसका अनुशासन, पाणिनीय अनुशासनों से नितांत भिन्न है। जैनों के धवला और जय धवला ग्रन्थों में भी प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं को 'मणि-प्रवाल' न्याय से जोड़कर भारतीय चिन्तन को लोक हित के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इतने के बावजूद श्रमणों का प्रयास संस्कृत को लोक-भाषा नहीं बना सका, क्योंकि संस्कृत जिनके घर की भाषा थी, वह उनके धर्म एवं कर्मकाण्ड की भी भाषा थी। उसके साथ एक ऐसी संस्कृति थी, जो हजारों वर्ष के प्राकृतों के साथ संघर्ष में अपने को बचा चुकी थी और जिसने अपने सीमित आयाम में ही उत्तरोत्तर अपनी विशिष्टता में वृद्धि की।

अन्यान्य ऐतिहासिक कारणों से श्रमण जब दुर्बल होते गये तो उन्होंने अपनी रक्षा के लिए ब्राह्मण-संस्कृति और संस्कृत के विशिष्टतावाद को अंगीकार करना प्रारंभ कर दिया। विशिष्टतावाद के ग्रहण की इस प्रवृत्ति ने उन्हें प्रबल तो नहीं बनाया, पर इसके विपरीत उससे उनका सर्वजन का परम्परागत संबंध टूटता गया, जिससे उत्तरोत्तर उनकी परंपरागत संस्कृति और भाषा जन-समर्थन से दूर होती गई।

अश्वघोष ने अपने संस्कृत नाटक में प्राकृत को स्थान दिया। किन्तु जिन मुखों से वह निकली वे विशिष्ट वर्ग के नहीं थे, स्त्री और शूद्र पात्रों के तथाकथित अपवित्र मुख थे। भाषा के माध्यम से विशिष्टता कैसे प्रवेश करती है अश्वघोष उसके महत्त्वपूर्ण निदर्शन हैं। अश्वघोष प्रारंभिक जीवन में महान् वैदिक पण्डित थे, बाद में महाश्रमण बुद्ध के मानवतावादी प्रभाव में आकर श्रमण भिक्षु बने। श्रमण-धर्म का जनसाधारण के अन्दर प्रसार ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। इसी की पूर्ति में उन्होंने भिक्षु-विनय के किंचित् विरोध में जाकर 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' जैसे महाकाव्यों का सर्जन किया और जनसाधारण में जाकर उसका संगीत के साथ गान किया। कहा जाता है कि अश्वघोष द्वारा बुद्धचरित आदि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गान से मनुष्य ही नहीं, पशुओं का हृदय भी द्रवित हो उठता था, घोड़े हिनहिना उठते थे; जिससे उस श्रमण महाकवि का नाम भी अश्वघोष पड़ा। यह सब ठीक था, किन्तु अश्वघोष ने जब अपने काव्य नाटकों के लिए संस्कृत भाषा ग्रहण की, तो उनके द्वारा ही होने वाली प्राकृत की अवमानना की ओर उनका ध्यान क्यों नहीं गया। इस प्रकार का यह एक उदाहरण है। किन्तु ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिनके विश्लेषण से पालि, प्राकृत और अपभ्रंशों का संकट स्पष्ट होता है। देखा जाता है कि जैसे-जैसे संस्कृत के साथ प्राकृत का सहवास बढ़ा, वैसे-वैसे उसकी दशा गिरती गई। साहित्य के नाम पर उत्तरोत्तर प्राकृत एवं पालि भाषाएँ संस्कृत की तरह ही कृत्रिम होती गईं। फलतः प्राकृतें भी सर्वजन की जगह अभिजात-वर्ग का प्रतिनिधित्व करने लगीं। प्राचीन काल के प्राकृत साहित्य की अपनी समतावादी संस्कृति थी, एवं साहित्य और संस्कृति के बीच का अन्तर नगण्य था। बाद की प्राकृतों में वह अन्तर बढ़ता गया। इस प्रकार की आदर्श-च्युति के पीछे संस्कृत और ब्राह्मणों की विशिष्टतावादी संकृति के अनुकरण की प्रवृत्ति थी। प्राकृतें जब अपने आदर्श शिखर पर थीं, तो संस्कृत अपने साहित्य गौरव के लिए उनका अनुकरण करती थी, किन्तु स्थानच्युति के साथ दशा बदलती गई। यहाँ तक कि अब संस्कृत के सहवास से प्राकृतें अपना आंशिक रूप भी समाप्त करने जा रही हैं। ग्रन्थों में प्राकृतों पर संस्कृत की कृपा छाया उसके दम को तोड़ती जा रही है। लोकसंस्कृति का प्रतिनिधित्व न होने के कारण संस्कृत को 'मृत भाषा' कहा जाता है, मान भी लें, तो संस्कृत यदि जीवित भाषा नहीं तो उसकी अभिजात संस्कृति का समाज और राज्य पर आज भी प्रभाव जमा है, प्राकृतें तो उतने से भी वंचित हैं।

उपर्युक्त बातें तथ्यपूर्ण हैं तो प्रश्न है कि इसके समाधान की दिशा क्या हो। जिसकी ओर मनीषियों एवं तत्त्वचिंतकों का ध्यान जाना चाहिए। परामर्श के रूप में कुछ बातें रखी जा सकती हैं, जिन पर विचार विमर्श होना चाहिए।

यह बहुत ही आवश्यक है कि श्रमण जीवन-दर्शन की विशेषताओं को छिपाने वाली व्याख्याओं की ऐतिहासिक एवं तात्विक परीक्षा कर वास्तविकता को प्रकट किया जाय जिससे यह व्यापक भ्रांति समाप्त हो कि श्रमणवादी-दर्शन और पालि एवं प्राकृत आदि भाषाएँ वेद-उपनिषदों और संस्कृत की ही प्रसूति हैं। उदाहरण के रूप में अनेकान्तवाद को समन्वयवाद या समझौतावाद समझा जाता है। जैन विद्वान् भी इसका समर्थन करते पाये जाते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में वर्तमान समाज का दबाव काम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। इसी दबाव में आकर क्रांतिकारी शक्तियाँ कुण्ठित होकर अपने को अपने-अपने संप्रदाय में ही घेर लेती हैं। विरोधी दबाव में भी हिम्मत जाती रहती है कि बुद्ध और महावीर के समतावादी एवं मानवतावादी विचारों को जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करें। ऐसे लोग अपनी कृत्रिम श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने के लिए कुल-श्रेष्ठता, जाति-श्रेष्ठता को स्वीकृति प्रदान करते हैं और वास्तव में महावीर और बुद्ध के नाम से उनके विरुद्ध शताब्दियों से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस सम्पूर्ण वात्या-चक्र का भेद करना होगा। इसके लिए आवश्यक है —स्त्री-शूद्र एवं जनजातियों तक पहुँचकर उन्हें महावीर और बुद्ध के संदेशों से सांत्वना प्रदान की जाय। इस प्रसंग में प्राकृत एवं अपभ्रंशों का वर्तमान प्रादेशिक भाषाओं और स्थानीय बोलियों के संबंध को जोड़ना नितांत आवश्यक होगा। इस प्रकार की अनेकानेक बातें हैं जिनकी ओर ध्यान देना होगा। सर्वाधिक ध्यान इस ओर देना होगा कि प्राकृतों की समस्या पर सांप्रदायिकता की दृष्टि से नहीं, राष्ट्रीय परिवेश में विचार किया जाय और उसके समाधान को भी भारतीय संस्कृति के विराट संदर्भ में स्थापित करें। किन्तु इसके प्रारंभ का उत्तरदायित्व उन्हीं लोगों पर है, जो श्रमण-परंपरा से प्रभावित हैं।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org